

## उपनिषद् में ज्ञान की पशकाष्ठा

यद्यपि आधुनिक युग में किसी भी प्रकार से भी की हुई

इन्द्रिय तृप्ति को ही वर्तमान जन्म की सफलता माननेवाले तथा इस इन्द्रिय-तृप्ति के साधनभूत विषयों के उपभोग में ही मन को लगाये रखने वाले मनुष्य उन विषयों की प्राप्ति कराने वाली अति महान धन राशि का किसी भी उपाय से अर्जन करना ही आत्मानिक पुरुषार्थ समझते हैं और उससे बढ़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है, ऐसा मानते हैं। धनी तथा अधिकारी पुरुष ही समाज में गिना जाता है, वही सब जगह अगुआ हो जाता है। उसकी कही गई सभी बातें समीचीन ही मानी जाती हैं। उसका सारा मत ही सर्वोत्तम है -ऐसा लोग मानते हैं तथापि प्राचीनकाल में हमारे महर्षि गण विषय भोग को अतिरुच्छ समझते थे और उसके साधनभूत धन अधिकारादि को तृप्ति के समान मानकर आत्मज्ञान को ही सर्वोत्कृष्ट उसकी प्राप्ति के लिए ही निरन्तर प्रयास करते रहते थे।

इस समय भी ऐसे अनेक पुरुष हैं जो आज भी उसी वेदादि शास्त्रानुमोदित महर्षियों के द्वारा संसेवित प्राचीनतम् मार्ग विशेषरूप से समादर करते हैं। महर्षि लोग लौकिक विषयों के विज्ञान की अपेक्षा परमपुरुषार्थ के साधन रूप परमार्थिक आत्मज्ञान को अत्यन्त उत्कृष्ट मानते थे। इसी के द्वारा उन्होंने सम्पूर्ण स्वर्गादि लोकों पर विजय प्राप्त की थी और परमश्रेय अर्थात् युक्ति को प्राप्त किया था। अपनी उत्प्रेक्षा शक्ति के द्वारा प्राप्त तेज से परमकल्याण के पथपर जहां तक वे पहुंच सके थे, दूसरे लोग उसकी कल्पना करने में भी समर्थ नहीं हो सकते।

यद्यपि वेदों के कर्मकाण्ड में तथा वेदों का ही आश्रय ग्रहण कर चलनेवाली दूसरी विद्याओं में भी आत्म स्वरूप और उसके नित्यत्व आदि का वर्णन किया गया है और कर्मकाण्ड की जो कुछ और जितनी भी प्रवृत्ति है वह सब आत्मा और उसकी नित्यता का अवलंबन लेकर ही है तथापि वैदिक कर्मकाण्ड आदि के द्वारा आत्मा की नित्य, निरतिशय, आनन्दमय प्रकाशमय सर्वात्मसूपता का ज्ञान नहीं हो सकता। केवल आत्मा की नित्यता का प्रतिपादन करने मात्र से कर्मकाण्ड का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। उसके सिवाय आत्मा की सर्वात्मता और एकता का प्रतिपादन कर्मकाण्ड के विरुद्ध भी पड़ता है। अतएव आत्मा के एकत्व का प्रतिपादन करना भेद को औपाधिक बतलाना, जीवात्मा और परमात्मा में भी वास्तविक भेद का अभाव बतलाना, आत्मा की अखण्डचिदानन्दरसरूपता का अनुभव कराना आदि सब कुछ, उपनिषदों का कार्य है। इसी में सारी उपनिषदों का विशेषतः 'ईशावास्य' से लेकर 'कैवल्य' पर्यन्त द्वादश उपनिषदों का परम तात्पर्य है। आचार्य शंकर भगवत्पाद ने भी अपने भाष्य में इसी



अभिप्राय को अभिव्यक्त किया है -

सैन्धत्व धनवद अनन्तरसबाह्येकरसं ब्रह्मेति विज्ञानं सर्वस्या  
मुपनिषदि प्रतिपिपादयिषितोऽर्थः । ..... तथा  
सर्वशारवोपनिषत्सु च ब्रह्मकृत्वविज्ञानं निश्चितोऽर्थः ।

(बृहदा. १/४/१०)

तथा

इत्यते च सर्वोपनिषदां सर्वात्मैक्यं प्रतिपादकत्वम् ।

(माण्डक्ये १/३)

'ब्रह्म नमक के डले के समान अन्तरहित (व्यवधान शून्य अविच्छिन्न) है, वह ब्राह्मभेद से रहित है अर्थात् बाहर से कुछ और भीतर से कुछ ऐसा नहीं है, सर्वदा एक रस है। सम्पूर्ण उपनिषद् में इसी विज्ञान का प्रतिपादन करना अभीष्ट है।'

इसी प्रकार सम्पूर्ण शाखाओं की उपनिषदों में भी 'ब्रह्म की एकता का विज्ञान' ही सिद्धान्तभूत अर्थ है।

सारी उपनिषदों सबके आत्मा की एकता का ही प्रतिपादन करने वाली है, यही मानना अभीष्ट है।

इस भाष्य पर विवृति लिखते हुए आनन्द गिरि कहते हैं -  
उपक्रमोपसंहारैकरुप्यादिना सर्वासामुपनिषदां सर्वेषु देहेषु  
आत्मैक्यप्रतिपादनपरत्वमिष्टम् ।

'उपक्रम और उपसंहार की एकरूपता आदि तात्पर्य-निर्णय के छ: हेतुओं को दृष्टि में रखते हुए यही मानना इष्ट है कि सम्पूर्ण उपनिषदें सब देहों में स्थित आत्मा की एकता का ही प्रतिपादन करने में तत्पर हैं। इस विषय में अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा की एकता तथा सब जीवों की परस्पर एकता के प्रतिपादन में और आत्मा अखण्डरूप चिन्मय एवं एक रस है। इस तथ्य के वर्णन में इन सभी उपनिषदों का कण्ठ

स्वर एक है। इस विषय को लेकर उनमे तनिक भी मतभेद नहीं है। यह बात निम्नोधुत वचनों से स्पष्ट है: जानी जा सकती है -  
यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।  
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ (ईशो. ६)

‘जो सब भूतों को आत्मा मे ही देखता है तथा सब भूतों में आत्मा को ही देखता है; वह इस सर्वात्मभाव के दर्शन के कारण किसी से भी धृणा नहीं करता।’

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ (केन. १/४)

‘जो वाणी के द्वारा अभिव्यक्त नहीं होता। जिसके द्वारा वाणी अभिव्यक्त होती है, उसे ही तुम ब्रह्म जानो। अज्ञानी जन जिस देशकालादि से परिच्छिन्न वस्तु की उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है।

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा  
एकं रूपं बहुधायः करोति ।  
तथात्मस्यं येऽनुपश्यन्ति धीरा  
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ (क. २/२/१२)

जो एक, सबको अपने वश में रखनेवाला और सब प्राणियों का अन्तरात्मा है तथा जो अपने एक रूप को ही नाना रूपों में व्यक्त करता है - अपनी बुद्धि मे स्थित उस आत्मदेव को जो, धीर (विवेकी) पुरुष देखते हैं, उन्हीं को शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है, दूसरों को नहीं।

अंगुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः ।

ईशानो भूतमन्यस्य स एवाद्य स उश्वः । (कठ. २/१/१३)

वह पुरुष अंगुष्ठमात्र तथा धूमविहिन ज्योति के समान है। वह जो कुछ हुआ है तथा होने वाला है सबका शासक है वही आज है और वही कल भी रहेगा।

परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते स यो ह वै तदच्छायमशरीरम लोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य । स सर्वज्ञः सर्वो भवति ।

(प्रश्न. ४/१०)

हे सोम्य। वह जो निश्चयपूर्वक उस तमोविहिन, शरीरहित लोहितादि गुणों से शून्य, शुद्ध एवं अविनाशी पुरुष (आत्मा) को जानता है, वह उस परम अक्षरब्रह्म को ही प्राप्त होता है। वह सर्व और सर्वरूप ही जाता है।

हिरण्यमये परे कोशे निरजं ब्रह्म निष्कलम ।

यच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योति तद्यदात्मविदो विदुः ॥

(मु. २/२/९)

वह निर्मल तथा निष्कल (अवयवरहित) ब्रह्म हिरण्यमय (ज्योतिर्मय) परम कोश मे स्थित है। वह शुद्ध तथा समस्त ज्योतिर्मय पदार्थों का भी प्रकाशक है और वही परमतत्व है, जिसे आत्मज्ञानी जानते हैं।

नान्तः प्रज्ञं न वहिष्प्रज्ञं नोभयताप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं प्रज्ञनाप्रज्ञम् ।  
अदृष्टमव्यवहार्यम् ग्राह्यमलक्षणम् चिन्त्यमव्यपदेश्य मेकात्म  
प्रत्ययसरिं प्रपञ्चोपशमं शान्ति शिवमद्वैतं चतुर्थमन्यन्ते स  
आत्मा स विज्ञेयः । (माण्डयू. ७)

“वह अन्तः प्रज्ञ अर्थात् तैजसस्वरूप नहीं है, वहि-प्रज्ञ अर्थात् विश्वरूप भी नहीं हैं। अन्तर्विहिः प्रज्ञ अर्थात् जाग्रत और स्वप्न की अन्तराल अवस्था रूप भी नहीं है, प्रज्ञानघन अर्थात् सुषुप्तावस्था रूप नहीं है। प्रज्ञ अर्थात् एक साथ सब विषयों का प्रज्ञाता, निराचेतन रूप नहीं है। अप्रज्ञ अर्थात् अचेतन रूप नहीं है। वह दृष्टि का विषय नहीं व्यवहार का विषय नहीं उसे हाथों द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता। उसकी परिभाषा नहीं हो सकती। वह अचिन्त्य है, अनिर्वचनीय है, अग्रदादि सभी अवस्थाओं में एकात्म प्रत्यय रूप है, प्रपञ्चकृत धर्मों का वहां अभाव है, वह शान्त है, शिव है, अद्वैत है - ऐसे उस परमतत्व को जानीजन परमात्मा का चतुर्थपाद मानते हैं। वही आत्मा है, वही जानने योग्य है।

स यश्चायां पुरुषे यश्वासावदित्ये स समाः ।

(तैतिरीय. २/८/५)

वह जो यह पुरुष मे (पंजकोशात्मक देह) है और वह जो आदित्य मे है वह एक है।

यत्किञ्चचेदं प्राणि जंगमं वेपतत्रि च यज्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्र प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञाप्रतिष्ठाप्रज्ञानं ब्रह्म । (ऐतरय. ३/३)

जो कुछ यह जंगम जीव समुदाय है जो पक्षी है, जो यह स्थावर जगत है, वह प्रज्ञानेत्र है अर्थात् प्रज्ञा मे द्यष्ट होता है। प्रज्ञान मे ही प्रतिष्ठित है। लोक प्रज्ञानेत्र है प्रज्ञा ही उसकी प्रतिष्ठा है, प्रज्ञान ही ब्रह्म है -

ऐतदात्म्यमिदं सर्वं वत्सत्यं स आत्मा तत्वमसि श्वेतकेतो ।

(छन्दो. ६/८/७)

हे श्वेतकेतु एतद्वप्त ही यह सब कुछ है, यह सत्य है, यह आत्मा है, यह तुम हो।

यस्मिन् सञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः ।

तमेव मन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम् ॥

(बृद्धा ४/४/७)

तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः ।

(बृद्धा २/५/११)

जिसमे पांच पंचजन (गन्धर्व, पितर, देवता, असुर और राक्षस) तथा अव्याकृत प्रकाश प्रतिष्ठित है, उस आत्मा को ही मैं अमृत ब्रह्म मानता हूँ। उस ब्रह्म को जानने वाला मैं अमृत हूँ। वह यह ब्रह्म पूर्व और अपर कारण और कार्य से रहित है, अन्तर विजातीय द्रव्य से शून्य है और अबाह्य है, (बाह्य आदि के भेद से

रहित है) यह आत्मा ही सबका अनुभव करने वाला ब्रह्म है।  
यत्परं ब्रह्म सर्वात्मा विश्वस्यायतनं महत् ।  
सूक्ष्मात्मसूक्ष्मतं नित्यं स स्वमेव स्वमेव तत् ॥

(कैवल्य १/१६)

‘जो ब्रह्म सबका आत्मा, विश्व का महान आयतन, सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर और नित्य है, वह तुम्हीं हो, तुम्हीं वह हो।’

इन उपनिषदों में उस प्रकार के अर्थवाले सैकड़ों वचन हैं जिनका परम तात्पर्यस्वरूप एक ही अर्थ है-एक रस अखण्ड आनन्दस्वरूप ब्रह्म और आत्मा की एकता का निरुपण करना। उनमें ध्यान योग उपासनादि तथा सुष्ठि में अनुप्रवेशादि अन्य विषय भी प्रतिप्रादित हुए हैं किन्तु उनका मुख्यतः प्रतिपादन नहीं हुआ है, प्रकृत अर्थ को अभिव्यञ्जित करने के लिए ही उनका प्रतिपादन हुआ है। इनका मुख्य प्रयोजन है - ऐद बुद्धि का निवारण करना।

यद्यपि लोक में एक सौ आठ उपनिषदें प्रचलित हैं और मुक्तिकोपनिषद में भी ये नाम ले लेकर गिनी गयी हैं तथापि उनमें बारह उपनिषदों की ही प्रधानता तथा सर्वोपादेयता है। इनमें बताये हुए अर्थ का ही बहुतेरी उपनिषदें अनुवाद करती हैं। दूसरी कुछ उपनिषदें ऐसी भी हैं जो देवता विशेष का नाम लेकर उसके स्वरूप महात्म्यादि का निरुपण करती हैं परन्तु वे समयाचार के प्रतिपादक (साम्प्रदायिक) ग्रंथों की कोटि में आकर सर्वत्र तथा सर्वजनों में अदर नहीं प्राप्त करतीं पर ये द्वादश उपनिषदें साम्प्रदायिक विषयोंमें तीनिक भी न पड़कर सब के लिये उपादेय बनती हैं। केवल अखण्डकरस, निर्णु, क्रिया कारक से शून्य, पर, एक सर्वात्मा सच्चिदानन्दन में परम तात्पर्य रखना ही इनकी सर्वोत्तमता और सर्वादरणीयता का प्रमुख कारण है। वस्तुतः अखण्ड आनन्दकरस स्वरूप ब्रह्म उपनिषध प्रतिपादित तत्व है, ऐसा श्रुति ने ही कहा है। ब्रह्मारण्यक उपनिषद में कथा है कि महाराज जनक ने-कौन ‘सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेता है’ यह जानने के लिये एक सहस्र गो दान की शर्त रखी। उस समय महर्षि याज्ञवल्क्य ने उन सहस्र गौवों को अपने अधिकार में कर लिया। इस पर राजसभा में बैठे हुए विद्वान् कुपित होकर उनसे अनेक प्रकार के प्रश्न करने लगे। उनमें, एक शाकल्य भी थे। उनके अनेक प्रश्नों का उत्तर देने के पश्चात महर्षि याज्ञवल्क्य ने भी उनसे पूछा -

‘तं त्वौपनिषदं पुरुष पृच्छामि, तं चेन्मे न विवक्ष्यमसि मूर्धा ते विपत्पित्तीति।’” (वृहदा ३/९/२६)

‘शाकल्य ! मैं तुमसे उस उपनिषद प्रतिपादित पुरुषों को पूछता हूं, यदि तुम मुझसे उसको नहीं बतलाओगे तो तुम्हार सिर गिर जायेगा।’

शाकल्य इसका उत्तर नहीं जानते थे, अतः उनसे उत्तर न बन पड़ा, इस कारण उनका सिर गिर गया। इस आख्यायिका को

कहकर अन्त में औपनिषद पद के अर्थ को श्रुति ने स्वयं खोला है ‘विज्ञानयानन्दं ब्रह्म सतिदीतुः पारायणम्। (ब्रह्मदा. ३/९/२८)

‘ब्रह्म विज्ञानानन्द स्वरूप है वह धन देने वाले यजमान की परम गति है।’ यहां शंकराचार्य जी अपने भाष्य में कहते हैं -

“अतिक्रान्तवाचात्मदिर्घम् हृदयाद्यात्मत्वं स्वैनैवात्मना व्यवस्थितो य औपनिषद पुरुष अशनायादि वर्जितः उपनिषत्वेव विशेषो नान्य प्रमाणगम्यः तं त्वां विद्यमियानिन् पुरुषं पृच्छामि इति ।”

विज्ञानं विज्ञासि: विज्ञानं तश्चानन्दं न विषय विज्ञानवद् दुःखानुवद्धम् । किं तर्हि प्रसन्नं शिवमतुलमनायासं नित्यतृप्तमे कर समित्यर्थः ।

“हृदयादि को ही आत्मा मानना रूप जो उपाधि धर्म हैं, उसको अतिक्रान्त करने वाला अपने आत्मरूप से ही व्यवस्थित क्षुधापियासा आदि धर्म से वर्जित उपनिषदों में ही जानने योग्य तथा दूसरे प्रमाणों द्वारा जानने में नहीं आ सकने वाला जो औपनिषद पुरुष है, उस पुरुष के विषय में मैं विद्या का अभिमान रखने वाले तुमसे पूछता हूं।”

विज्ञासि (बोध) का नाम ही विज्ञान है, वही आनन्द भी है। ब्रह्म विज्ञान विषय विज्ञान की भांति दुःख से व्याप्त नहीं है तो, फिर कैसा है ? प्रसन्न कल्याणमय, अनुपम, आयामरहित, नित्य त्रुप्त और एक रस है, ऐसा इसका तात्पर्य है।

इस सन्दर्भ के द्वारा यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि अत्मस्वरूप एक मात्र उपनिषदों के द्वारा ही प्राप्त होने योग्य है। अतएव उसको औपनिषद पुरुष कहते हैं

इस प्रकार इन मुख्य उपनिषदों का स्वतः प्रतीत होनेवाला अभिप्राय नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, निर्णु एकरस निरतिशय, अखण्ड आनन्द स्वरूप, अद्वैत आत्मा का बोध कराना ही है कहीं-कहीं द्वैत सगुण आदि तथा अन्यत्र भी जो इनकी प्रवृत्ति दीख पड़ती है, वह भी अद्वैततत्व के साधन के रूप में है न कि परम तात्पर्य के रूप में।

सम्पूर्ण वेद जिस पद का प्रतिपादन करते हैं, सारी तपश्चायाओं को जिसकी प्राप्ति का साधन बताया जाता है, जिसकी इच्छा करते हुए मुमुक्षुजन ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं ‘ओम’ वही पद है।

अत्यन्त गहन, अत्यन्त दुर्लभ, अतिनिगृह्ण आत्म तत्व का प्रतिपादन करने से ही इन उपनिषदों को रहस्यात्मक माना गया है।

- डॉ. एस. जे. दिवाकर

सरस्वती सदन, इन्दिरा कालोनी, माला रोड,  
कोटा जंक्शन ३२४००२ (राज.)